

## योग के विभिन्न स्वरूप

डॉ० शशि शेखर नाथ पाण्डेय\*

“योग” चित्तवृत्ति के निरोध एवं दो पृथक् अवस्थित वस्तुओं के मेल के साधन को कहते हैं क्योंकि योग शब्द “युजिर्” योगे तथा “युज्” समाधौ इन दो धातु से बनता है। धातु के अर्थ का अनुगम होने से ये दोनों अलग-अलग अर्थ इस शब्द से निकलते हैं। गीता में जो बहुविध यज्ञों का वर्णन है, यथा—

“एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्राह्मणो मुखे।  
कर्मजान्चिहि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे” ॥ (4.32)  
और भी—“द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।  
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः” ॥ (4.28)

में द्रव्ययज्ञ-तपोयज्ञ-योगयज्ञ-स्वाध्यायज्ञ और ज्ञानयज्ञ इनका वर्णन मिलता है। द्रव्ययज्ञ तो द्रव्यसाधन से होने वाले यज्ञ को कहते हैं, यथा— कूपोदि। तपोयज्ञ— चान्द्रायण आदि व्रतों का अनुष्ठान तपोयज्ञ है।

योगयज्ञ— यमादि (नियम-आसन इत्यादि अंशों का अनुष्ठान है। सध्योपासन आदि का अनुष्ठान भी योग यज्ञ के ही अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। गीता के—

“यस्य सर्वे समारम्भाः काम संकल्प वर्जिताः।  
ज्ञानाग्निदग्ध कर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥” (4.19)  
“त्यक्त्वा कर्म फलासंख्यं नित्यतृप्तो निराश्रयः।  
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः” ॥ (4.20)

इन श्लोकों में कर्मरूप यज्ञों का वर्णन है।

स्वाध्याय यज्ञ— नित्य वेदाध्ययन।

ज्ञान यज्ञ— युक्तियों से वेद के अर्थ का निश्चय कराने वाले ज्ञानयज्ञ होते हैं।

यह अनेक अर्थ वाले योग शब्द की सिद्धि की ओर इंगित करता है। इस गीता वचन में यज्ञों को योगशब्देन संकेतित किया गया है क्योंकि इसका आशय यही है कि वेद द्वारा बहुत प्रकार के यज्ञ बतलाये गये हैं। ये सभी यज्ञ कर्मजन्य हैं। अर्थात् भेददृष्टि अथवा द्वैतदृष्टि के रहते ही अनुष्ठित होते हैं। ये कर्मजन्य जो भेददृष्टि रहते अनुष्ठित रहते हैं वे आत्मदृष्टि को सम्पन्न करारकर अभेद या एकत्व का बोध कराने के कारण जीवात्मा से परमात्मा के मिलन या जीवात्मा की परमात्म रूपता की सम्पत्ति में साधन बनते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण गीता में—

“इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।  
विवस्वान्मनवे प्राह मनुर्दिवाकवेऽब्रवीत्” ॥ (4.1)

\*अतिथि प्राध्यापक, वेदान्त विभाग, सं०सं०वि०वि०, वाराणसी

कहते हुए गीता के अध्याय 2 तथा 3 में उक्त ज्ञाननिष्ठा लक्षण योग को योग शब्द में अभिहित किया है। यह योग कर्मनिष्ठा रूप उपाय से लभ्य है।

भगवत् पाद्य शंकराचार्य सम्पूर्ण वेदार्थ को इसी ज्ञान निष्ठा लक्षण योग में इसको परिसमाप्त मानते हैं। इस वचन में “इयम्” शब्द का प्रयोग है, जो अत्यन्त सनिकृष्ट अर्थ को बोधित करता है। इस योग को अव्यय योग कहा गया है। “अव्यय” अविनाशी ब्रह्म का बोध कराने के कारण इसे अव्यय कहते हैं तथा अव्यय या नित्य वेद से प्रतिपादित होने के कारण भी इसे अव्यय कहते हैं। यह योग अविच्छिन्न परम्परा से सृष्टि के आदि काल से ही प्रलय पर्यन्त निरन्तर गुरु के द्वारा शिष्य को उपदेश के रूप में प्राप्त होता है। इसीलिए अविच्छिन्न सम्प्रदाय मूलक होने से भी अव्यय कहते हैं।

“बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥” (2.50)

कहते हुए भगवान् कर्म में कौशल को योग शब्द से बोधित करते हैं और यह कौशल फल का त्याग करके कर्मानुष्ठान करना ही है। क्योंकि कर्म फल का त्याग किये बिना कर्म का अनुष्ठान करने पर कर्म से फल की प्राप्ति होती है। अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती, जो कि ज्ञाननिष्ठा के लिए आवश्यक है। कर्मयोग का अर्थ कर्मरूप योग है। इसे गीता के—

“लोकैऽस्मिन्द्विधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्” ॥ (3.3)

इस श्लोक में बतलाया गया है। इस वचन में यह प्रतिपादित किया गया है कि अधिकारी के रूप में अभिमत इस लोक में शुद्ध एवं अशुद्धान्तर अन्तःकरण के भेद से दो प्रकार के लोभ हैं। इनकी दो प्रकार की निष्ठा या स्थिति ज्ञानपरता एवं कर्मपरता के रूप में पूर्व अध्याय अर्थात् द्वितीय अध्याय में वर्णित है। जिससे ये स्पष्ट होता है कि जो त्रिविध एषणा से मलीन अन्तःकरण वाले हैं, उनके लिए कर्मनिष्ठा का विधान है। वे कामना रहित होकर कर्म का अनुष्ठान करते हुए ज्ञान के अधिकारी हो जाते हैं। अतएव भगवान् ने इस वचन में कहा है कि जो सांख्य लोग हैं, उनके लिए ज्ञान यज्ञ है। सांख्य का अर्थ है, जिन्होंने सम्यक् रूप से आत्मबुद्धि को प्राप्त कर लिया है। जो शुद्ध अन्तःकरण वाले हैं तथा जो ज्ञान की भूमि में आरूढ़ हो गये हैं उनके लिए है। “ज्ञानमेव योगः ज्ञानयोगः” यह ज्ञानयोग शब्द की व्युत्पत्ति है जिससे यह स्पष्ट होता है, कि ज्ञान के द्वारा ही ब्रह्म से योग होता है। यह ब्रह्म से योग का अर्थ है ब्रह्मरूपता की प्राप्ति। अशुद्ध अन्तःकरण वालों के लिए कर्मयज्ञ है। क्योंकि ज्ञान भूमि में अनारूढ़ होने के कारण उनका ज्ञान निष्ठा में अधिकार नहीं है। कर्मयोग शब्द का अर्थ “कर्मैव योगः”, “कर्मयोगः” इस व्युत्पत्ति से कर्म को ही आत्म प्राप्ति का साधन बतलाया गया है। किन्तु यह कर्म अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा ज्ञान की भूमिका में आरोहण हेतु अपेक्षित है। यह

साक्षात् ज्ञान का साधन नहीं है, श्लोक में "द्विविधानिष्ठा" इस एक वचनान्त शब्द का प्रयोग होने से यह स्पष्ट होता है कि एक ही निष्ठा साध्य-साधन रूप अवस्था भेद से दो प्रकार की है। न कि दो स्वतन्त्र निष्ठाएँ हैं। इसीलिए भगवान आगे—  
 "एवं साख्यं च योगं च....."।

यह कहते हुए निष्ठा के एकत्व को बतलाते हैं।

इस प्रकार एक ही ज्ञान निष्ठा है जो—

"ज्ञानयोगेन साख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्" (3.3)

की इस श्लोक के द्वारा बोधित हो रही है। अतः ज्ञान की अधिकारिता की प्राप्ति में पूर्णतः कर्म की अनुष्ठानता आवश्यक है, किन्तु यह कर्म फलासक्ति रहित अनुष्ठेय होने पर ही योग होगा।

कोई भी व्यक्ति एक क्षण भी कर्मरहित होकर नहीं रहता, क्योंकि वह विवश होकर सत्व-रज-तम इन तीनों गुणों के द्वारा प्रेरित होकर अज्ञानावस्था में कार्य करता रहता है। अतः अज्ञो के लिए ही कर्म अनुष्ठेय है। यह सूचित होता है। अत एव ज्ञान योग को सांख्यों के लिए साधन के रूप में बतलाया गया है और कर्म योग को उनसे भिन्न, अज्ञानी लोगों के लिए बतलाया गया है।

"कर्मन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।

इन्द्रियार्थान्मिमांसा मिथ्याचारः स उच्यते।" (3.6)

इस श्लोक में स्पष्ट किया गया है कि वहिरिन्द्रिय हस्त पादादि से कर्म न करते हुए भी रागादि प्रेरित मन से इन्द्रियार्थों का स्मरण करने वाले लोग शब्दादि विषयों का चिन्तन करते हैं, उन्हें मिथ्याचार बतलाया गया है। क्योंकि वे आत्म तत्व का स्मरण नहीं करते और मैंने संन्यास ले लिया। इस अभियान से कर्मशून्य होकर कालयापन कर रहे हैं। अतः इस उपदेश से भगवान यह संकेत कर रहे हैं कि जब तक रागादि दोष मन में है तब तक कर्मानुष्ठान करना चाहिए। अतः इस वचन से यह स्पष्ट होता है कि कर्म व्यतिरिक्त चित्त शुद्ध का अन्य उपाय नहीं है।

गीता के— "एवं सतत युक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।

ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।" (12.1)

श्लोक में अर्जुन ने यह जिज्ञासा किया कि—

"मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सःXवर्जितः।

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव"। (11.55)

यह शब्द साकार शब्द का बोधन करता है, या निराकार का?

तो कहते हैं कि इस शब्द का प्रयोग साकार और निराकार दोनों के लिए देखा जाता है। क्योंकि—

"नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।

शक्य एवविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा"। (11.53)

इत्यादि श्लोक में साकार परक इस शब्द का प्रयोग है। "बहुनां जन्मना।

..'' इस श्लोक में निराकार परक प्रयोग है और अधिकारी भेद से ही इन दोनों की व्यवस्था होनी चाहिए। अन्यथा विरोध होगा। इस स्थिति में ये जिज्ञासा है कि किसका चिन्तन करना चाहिए, अर्थात् सगुण विद्या या निर्गुण विद्या का विशेष क्या है। इस श्लोक में (12.1) "योग वित्तमः" शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात् अर्जुन यह जानना चाहते हैं कि जो साकार के उपासक हैं, या जो निराकार के उपासक हैं, उनमें कौन श्रेष्ठ योगवित्त है। किन्तु ज्ञान का मुझे अनुसरण करना चाहिए। इस प्रश्न के अनन्तर सर्वज्ञ भगवान ने अर्जुन का सगुण विद्या में अधिकार देखते हुए उन्होंने पहले— "मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।।" (12.2)

साकार ब्रह्म विद्या को ही बतलाया है। तथा उन्हें साकार ब्रह्म के उपासक को युक्ततम भी कहा। अर्थात् वे ही भगवान को अभिमत है। यह तथ्य अर्जुन ने उपदेश से ग्रहण किया, क्योंकि मन में यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि सगुण ब्रह्मवेत्ताओं में ऐसी कौन सी विशेषताएँ हैं, जो कि निर्गुण ब्रह्मवेत्ताओं से श्रेष्ठ है। क्योंकि निर्गुण ब्रह्मोपासन साक्षात् मोक्ष का साधन होने से श्रेष्ठ है, इस जिज्ञासा का शमन— "क्लेशऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम्।

अव्यक्ता हि गर्तिदुःखं देहवद्विरऽवाप्यते"।।। (12.5)

में भगवान ने किया है। इस प्रसX के मनन से यह स्पष्ट होता है कि निर्गुण के उपासक एवं सगुण के उपासक जब योग वित्त माना गया है, तो सगुणोपासक रूप भक्ति भी योग या परमात्म प्राप्ति का साधन है। अत एव भगवान ने कहा है कि— "भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवविधोऽर्जुन।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप"।। (11.54)

इस वचन में अनन्य भक्ति का अर्थ है कि जिस भक्ति के द्वारा कभी पृथक् नहीं होती वही अनन्य भक्ति है। अर्थात् जब सभी कारणों से भगवान से किसी अन्य की प्राप्ति नहीं करता जीव तो वह अनन्य भक्ति की प्राप्ति करता है।

इस प्रकार गीता में ज्ञान-कर्म एवं भक्ति को योग शब्द से व्यवहृत किया गया है। किन्तु गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में जो अध्याय समाप्ति सूचक वाक्य लिखे हैं उससे सभी अध्याय में "श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां "योगशास्त्रे" इन दो शब्दों का उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि गीता शास्त्र ब्रह्म प्राप्ति के उपाय का प्रतिपादक शास्त्र है। अतएव पहले अध्याय को अर्जुन विषाद योग नामक अध्याय बतलाया। द्वितीय अध्याय सांख्य योग नाम से प्रसिद्ध हुआ। ये सब योग परमात्म प्राप्ति के साधन हैं। योग शास्त्र जो अष्टाX योग का वर्णन करता है, वो भी परमात्म प्राप्ति का साधन है।

अतः योग शब्द प्राणायाम-प्रत्याहार को ही योग बतलाता है, इस अवधारणा से पृथक् होकर व्यापक अर्थ में योग शब्द के प्रतिपाद्य अर्थ में चिन्तन करना वर्तमान काल में आवश्यक है।